श्री परमात्मने नमः ।

आदिनाथ स्तोत्र

मूल, पद्यानुवाद, अन्वयार्थ भावार्थ सहित

प्रकाशक—

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

❀ श्रीवीतरागायनमः ❀

श्रीमन्मानतुङ्गविरचित

आदिनाथस्तोत्र

(भक्तामरस्तोत्र)

श्रीनाथूरामजीविरचित भाषाटीका

और

नवीन पद्यानुवाद से विभूषित

प्रकाशक

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

सितम्बर सन् १९५०

नवाँ संस्करण] मूल्य दस आने [क्रमसंख्या १६,१००

भूमिका

[प्रथमावृत्तिसे]

भक्तामर स्तोत्रका † परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं है। जैनियोंमें शायद ही कोई ऐसा होगा, जो भक्तामरको न जानता हो। भक्तामर और सूत्रजीका (तत्त्वार्थका) पाठ किये बिना सैंकड़ों जैनी भोजन नहीं करते। जबतक जैनीका बालक 'भक्तामर' और 'सूत्रजी' नहीं पढ़ लेता, तबतक वह पढ़ा लिखा नहीं कहला सकता। इसीसे समझ लेना चाहिये कि इस स्तोत्रका कितना माहात्म्य है और लोग इसे कितनी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। परन्तु खेद है कि जिन अपूर्व अद्वितीय गुणोंके कारण इस ग्रंथका इतना माहात्म्य और प्रचारबाहुल्य है, अब हमारा समाज संस्कृत विद्याके अभावसे उन गुणोंके रसास्वादसे वंचित होता जाता है। वह यह नहीं जानता है कि इसमें कौनसा अमृत भरा हुआ है, जिसे पान करके भिन्नधर्मी पंडितगण भी बारंबार शिरःसंचालन करते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। संस्कृतानभिज्ञ लोगोंको उसी अपूर्व अमृतका-आस्वादन करानेके लिए हमने यह प्रयत्न किया है।

देववाणी संस्कृतके पाठसे जो रसास्वाद तथा आनन्दानुभव होता है, वह हिन्दी भाषाके अनुवादमें ला देना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। तो भी हमसे जहाँ तक बना है, इस बातका प्रयत्न किया है कि मूलके किसी भी पदका भाव न रह जावे। हम समझते हैं कि हमारी इस टीका तथा अनुवादसे भाषा-रसिकजन उस आनन्दके बहुत कुछ अंशोंका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकेंगे, जिसके उपभोगके अधिकारी केवल संस्कृतज्ञ जन ही समझे जाते हैं।

---

† यथार्थमें इस स्तोत्रका नाम आदिनाथस्तोत्र है; परन्तु इसके प्रारंभके 'भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्' इस पादमें भक्तामर ऐसा पद होनेसे इसका भक्तामर नाम प्रचलित हो गया है। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी ऐसा देखा जाता है। सूक्तिमुक्तावली 'सिन्दूरप्रकर' के नामसे और पार्श्वनाथस्तोत्र 'कल्याणमंदिर' के नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्रकार एकीभावस्तोत्र वगैरह भी प्रसिद्ध हैं। इन सब ग्रन्थोंके नाम प्रारंभके पदके कारण ही पड़े हैं।

जहाँ तक हमें मालूम है, इस पुण्यस्तोत्रकी अभी तक कोई भी ऐसी टीका प्रकाशित नहीं हुई थी, जिससे विद्यार्थी तथा सर्व साधारण-जन इसके मर्मको समझ सकें, और शायद ऐसी कोई टीका बनी भी नहीं है,जो वर्तमान संमयके अनुसार सर्वप्रिय और सर्वोपयोगी हो। गुजराती अनुवादके साथ एक सज्जनने इसका हिन्दी अर्थ छपवाया था; परन्तु वह केवल भावार्थ था, उसे टीका नहीं कह सकते। इसी त्रुटिकी पूर्तिके लिये हमने यह प्रयत्न किया है। इसमें हम कितनी सफलता प्राप्त कर सके हैं, इसका उत्तर हमारे चतुर विद्वान् पाठक दे सकेंगे।

एक बात पद्यानुवादके विषयमें कहना है और वह यह है कि जब पंडित हेमराजजीका सुन्दर पद्यानुवाद उपस्थित था तब इसकी क्या आवश्यकता थी ? शायद कोई सज्जन यह शंका करें, तो उसके उत्तरमें हम उन्हें श्री अमितगत्याचार्यका यह श्लोक स्मरण कराते हैं:—

कृतिः पुराणा सुखदा न नूतना न भाषणीयं वचनं बुधैरिदम् ।
भवंति भव्यानि फलानि भूरिशो न भूरुहां किं प्रसवप्रसूतितः ॥—धर्मपरीक्षा ।

अर्थात् 'प्राचीन कविता ही सुखदायक होती है, नवीन नहीं' बुद्धिमानोंको यह वचन नहीं कहना चाहिए। वृक्षोंको प्रतिवर्ष नये नये फल आते हैं, तो क्या वे पहले वर्षोंके फलों सरीखे श्रेष्ठ और मिष्ट नहीं होते ?

सुनते हैं कि भक्तामरस्तोत्रके कई पद्यानुवाद हो चुके हैं। परन्तु हमें सिवाय हेमराजजी के दूसरा कोई अनुवाद देखनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ। प्रायः सब जगह इसीका प्रचार अधिक है। दूसरे अनुवाद अप्रसिद्ध हैं, और शायद अच्छे भी नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं कि, हेमराजजीका अनुवाद बहुत सुन्दर प्रसाद-गुणयुक्त और श्रेष्ठ है, परंतु वह एक स्वतंत्र अनुवाद है, उसमें भावमात्र ग्रहण किया गया है। प्रत्येक पद तथा शब्दकी ओर अनुवादक महाशयने लक्ष्य नहीं दिया है। उदाहरणके लिए सैंतीसवें श्लोकका अनुवाद देखिए:—

जैसी महिमा तुमविषैं, और धरे नहिं कोय।
सूरजमें जो जोति है, तारनमें नहिं सोय ॥ ३७ ॥

हेमराजजीके अनुवादके विषयमें हम एक बात और भी कहना चाहते हैं, वह यह कि, इस स्तोत्रके अनुवादके लिए चौपाई छन्द यथेष्ट नहीं है। छन्दकी संकीर्णताके कारण अनुवाद अनेक स्थानोंमें क्लिष्ट और भावच्युत हो गया है। अर्थबोध भी कहीं २ कठिनतासे होता है। जैसे;—

तुम गुन-महिमा हत-दुखदोष, सो तो दूर रहो सुखपोष।
पापविनाशक है तुम नाम, कमल विकासै ज्यों रविधाम ॥ ९॥

इसमें मूलका वह भाव नहीं आ पाया, जो सबसे अधिक आनंद-जनक था। यहां हमारा आशय हेमराजजीके ग्रंथकी निंदा करनेका नहीं है किंतु यह प्रकट करनेका है कि उनका अनुवाद उत्तम होनेपर भी त्रुटि रहित नहीं है।

इन सब कारणोंसे हमारा बहुत दिनोंसे विचार था कि एक ऐसा अनुवाद किया जावे, जो सर्वथा मूलका प्रतिरूप हो, साथ ही सरल, सुख-पाठ्य और शीघ्रार्थबोधक भी हो। हर्षकी बात है कि, आज उस विचारको हम कार्यमें परिणत करनेको समर्थ हुए हैं। यद्यपि हमने इसे सरल बनानेके लिए शक्तिभर प्रयत्न किया है; परंतु संस्कृतके भाव ही कुछ ऐसे कठिन होते हैं कि परिश्रम करनेपर भी हमारे अनुवादमें कई जगह काठिन्य आ गया है। पाठक इस अपराधके लिए हमें क्षमा करेंगे।

हमारी कविता कुछ ऐसी प्रसादजनक नहीं है, जिसके लिए हमें अपने इस अनुवादका गर्व हो, और पाठकोंसे आग्रह हो कि वे इसे पढ़ें ही। हमारा उद्देश्य केवल मूलके सम्पूर्ण भावोंको स्पष्ट करनेका है, और उसीके लिए हमारा यह प्रयत्न है। जो पाठक इसके अभिलाषी होंगे, उन्हें ही हमारा यह परिश्रम रुचिकर होगा, दूसरोंको नहीं।

इस ग्रन्थका संशोधन अवलोकन करके हमारे जिन २ पंडित जिनोंने हमको आभारी किया है, उन्हें हम अनेकानेक धन्यवाद देकर इस प्रस्तावको समाप्त करते हैं।

देवरी (सागर)
ता० ११-५-१९०७

विद्वानों का सेवक—
नाथूराम प्रेमी

❀ नमो वीतरागाय ❀

श्रीमन्मानतुङ्गसूरिविरचित

आदिनाथस्तोत्र

भाषाटीका तथा पद्यानुवादसहित ।

वसन्ततिलका वृत्तम् ।

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्द्योतकं दलितपापतमोवितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥ १ ॥
यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्तहरैरुदारैः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥ २ ॥
(युग्मम्)

जो सुरनके नत-मुकुटमनिकी, प्रभाको परकासते।
पुनि प्रबल अतिशय, पापरूपी [1]तिमिरपुञ्ज विनासते॥
अरु जो परे भवजल, दियौ, अवलम्ब तिनहिं युगादिमें।
जिनदेवके तिन चरन-जुगको, नमन करके आदिमें—॥ १॥

अचरज बड़ो जो शक्तिबिन हू, करहुँ थुति सुखकारिनी।
तिन प्रथम जिनकी परमपावन, अरु भवोदधितारिनी॥
जिनकी त्रिजग-जन-मन-हरन वर, विशद विरद सुहाइ है।
[2]हरिने [3]सकल-श्रुत-तत्त्व-बोध-प्रसूतबुधिसों गाइ है॥ २॥

अन्वयार्थ—(भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्) भक्तिमान् देवोंके झुके हुए मुकुटोंकी जो मणियाँ हैं, उनकी प्रभाको (उद्योतकं) प्रकाशित करनेवाले, (दलितपापतमोवितानं) पापरूपी अंधकारके समूहको नष्ट करनेवाले और (भवजले) संसारसमुद्रमें (पततां) पड़ते हुए (जनानां) मनुष्योंको (युगादौ) युगकी आदिमें अर्थात् कर्मभूमिके आरंभमें (आलम्बनं) सहारा देनेवाले, (जिनपादयुगं) श्रीजिनदेवके चरणयुगलोंको (सम्यक्) भलीभांति (प्रणम्य) प्रणाम करके—॥ १॥ (सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्) सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणीका रहस्य जाननेसे (उद्भूतबुद्धिपटुभिः) उत्पन्न हुई जो बुद्धि, उससे प्रवीण ऐसे (सुरलोकनाथैः) देवलोकके स्वामी इन्द्रोंने (जगत्त्रितयचित्तहरैः) तीन जगतके चित्त हरण करनेवाले

---

१ अंधकारके। २ इन्द्रने। ३ सम्पूर्ण द्वादशांगसे उत्पन्न हुई चतुर बुद्धिके द्वारा। ४ अर्थात् देवोंके मुकुट आपके चरणोंकी प्रभासे और भी अधिक दीप्तिमान होते हैं।

(उदारैः) विस्तृत (स्तोत्रैः) स्तोत्रोंके द्वारा (यः संस्तुतः) जिसकी स्तुति की, (तं) उस (प्रथमं जिनेन्द्रं) प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेवका (किल) आश्चर्य है कि (अहम् अपि) मैं भी (स्तोष्ये) स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—जिसकी स्तुति द्वादशांग वाणीके ज्ञाता इन्द्रोंने बड़े बड़े विशाल स्तोत्रोंके द्वारा की है, मैं उसी आदिनाथ भगवान्का स्तोत्र करना प्रारंभ करता हूँ, यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १–२ ॥

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।
बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्बम्
अन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

हे अमरपूजितपद तिहारी, [1]थुति करनके काज मैं।
बुधिबिना ही अति ढीठ बनिके, भयउ उद्यत आज मैं ॥
जलमें परयौ प्रतिबिम्ब शशिकौ, देख सहसा चावसों।
तजिकै [2]शिशुनकों को सुजन जन, गहन चाहै [3]भावसों ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(विबुधार्चितपादपीठ) देवोंने जिसके सिंहासनकी पूजा की है, ऐसे हे जिनेन्द्र ! (बुद्ध्या विना) बुद्धिके विना (अपि) ही (विगतत्रपः) लज्जारहित (अहम्) मैं

१ स्तुति। २ बालकोंको। ३ वस्तुपनेसे।

(स्तोतुं) आपका स्तवन करनेको (समुद्यतमतिः) उद्यतमति हुआ हूँ, अर्थात् तत्पर हुआ हूँ। (बालं विहाय) बालकके सिवाय (अन्यः) अन्य (कः) कौन (जनः) मनुष्य ऐसा है जो (जलसंस्थितं) जलमें दिखाई देनेवाले (इन्दुबिम्बं) चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको (सहसा) एकाएक (ग्रहीतुम्) पकड़नेके लिए (इच्छति) इच्छा करता है ?

भावार्थ—जैसे मूर्ख बालक जलमें पड़ी हुई चन्द्रमाकी छायाको पकड़ना चाहता है उसी प्रकार मैं भी आपका स्तोत्र करनेके लिए तैयार हुआ हूँ, जो कि अतिशय कठिन है ॥ ३ ॥

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र शशाङ्ककान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

हे गुणनिधे, शशिसम समुज्ज्वल, कहन तुव गुन-गन-कथा ।
'सुरगुरुनके सम हू गुनीजन, हैं न समरथ सर्वथा ।
जामें प्रलयके पवनसों, उछरत प्रबल [२]जलजंतु हैं ।
तिस जलधिकों निज भुजनसों, तिर सकैं को बलवंतु हैं ॥४॥

अन्वयार्थ—(गुणसमुद्र) हे गुणोंके समुद्र (ते) तुम्हारे (शशांककान्तान्) चन्द्रमाकी कान्ति जैसे उज्ज्वल (गुणान्)

१ सुरगुरु इन्द्र या बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् । २ मगरमच्छ आदि जलचर जीव ।

गुणोंके (वक्तुं) कहनेको (बुद्ध्या) बुद्धिसे (सुरगुरुप्रतिमः अपि) देवगुरु बृहस्पतिके समान भी (कः) कौन पुरुष ऐसा है जो (क्षमः) समर्थ हो ? क्योंकि (कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं) प्रलयकालकी आँधीसे उछलते हैं मगर मच्छोंके समूह जिसमें, ऐसे (अम्बुनिधिं) समुद्रको (भुजाभ्याम्) भुजाओंसे (तरीतुम्) तैरनेको (को वा) कौन पुरुष (अलम्) समर्थ हो सकता है ?. कोई भी नहीं ।

भावार्थ—जैसे प्रलयकालकी आँधीसे भयानक हुए समुद्रको कोई भुजाओंसे नहीं तैर सकता है, उसी प्रकार मैं भी आपके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ ॥ ४ ॥

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश
कर्त्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं
नाऽभ्येति किं निजशिशोःपरिपालनार्थम् ॥

मुनिनाथ, मैं उद्यत भयउ जो, विरद[१] पावन गानकों ।
सो एक तुव पदभक्तिके वश, भूलि निजबलज्ञानकों ॥
ज्यों प्रीतिवश, निज-बल-विचार बिना, स्ववत्स[२] बचाइवे ।
अविदीन हू हरिनी, डरै नहिं, सिंहसम्मुख जाइवे ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश्वर, मैं स्तोत्र बोलनेमें असमर्थ हूँ, (तथापि) तो भी (तव भक्तिवशात्) तुम्हारी

१ स्तोत्र अथवा स्तुति । २ अपने बच्चेके ।

भक्तिके वशसे (विगतशक्तिः) शक्तिरहित (अपि) भी (सः अहं) वह बुद्धिहीन मैं (स्तवं कर्तुं) आपका स्तवन करनेके लिए (प्रवृत्तः) प्रवृत्त हुआ हूँ। सो ठीक ही है, क्योंकि (मृगः) हरिण (प्रीत्या) प्रीतिके वशसे (आत्मवीर्यं) अपने पराक्रमको (अविचार्य) बिना विचारे ही (निजशिशोः) अपने बच्चेकी (परिपालनार्थम्) रक्षाके अर्थ (किं) क्या (मृगेन्द्रं) सिंहको (न अभ्येति) नहीं प्राप्त होता है? अर्थात् उसके सम्मुख लड़नेके लिए क्या नहीं जाता है?

भावार्थ—जैसे हरिणी अपने बच्चेको सिंहके पंजेमें फँसा देखकर उसकी प्रीतिके वशसे, यद्यपि सिंहको जीत नहीं सकती है; तो भी, सामने लड़नेको झपटती है, उसी प्रकार मुझमें शक्ति नहीं है, तो भी भक्तिके वशसे आपका स्तोत्र करनेके लिए तत्पर होता हूँ, अर्थात् इस स्तोत्रके करनेमें आपकी भक्ति ही कारण है, मेरी शक्ति या प्रतिभा नहीं ॥ ५ ॥

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधामं
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्!
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिकानिकरैकहेतुः ॥ ६ ॥

अल्पज्ञ अरु ज्ञानीजननके, हासको सुनिवास मैं।
तुव भक्ति ही मोहि करत चंचल, इस पुनीत प्रयासमें ॥
मधुमासमें जो मधुर गायन, करत कोइल प्रेमसों।
सो नव रसालनकी ललित, कलिकानिके वश नेमसों ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अल्पश्रुतं) थोड़ा है शास्त्रज्ञान जिसको ऐसे, और (श्रुतवतां) शास्त्रके ज्ञाता पुरुषोंके (परिहासधामं) हँसीके स्थान ऐसे (माम्) मुझको (त्वद्भक्तिः) तुम्हारी भक्ति (एव) ही (बलात्) बलपूर्वक (मुखरीकुरुते) वाचाल करती है। क्योंकि (कोकिलः) कोयल (किल) निश्चयसे (मधौ[1]) वसन्त ऋतुमें (यत्) जो (मधुरं विरौति) मधुर शब्द करती है, (तत् चारुचूतकलिका-निकरैकहेतुः) सो उसमें सुन्दर आम्रवृक्षोंका मौर ही एक कारण है।

भावार्थ—कोयलकी यदि स्वयं मधुर बोलनेकी शक्ति होती, तो वह वसन्त ऋतुके सिवाय दूसरी ऋतुओंमें भी बोलती। परन्तु वह, जब वसंतमें आमोंके मौर आते हैं, तब ही मीठी वाणी बोलती है। इससे सिद्ध है कि उसके बोलनेमें एक मौर ही कारण है। इसी प्रकार मुझमें स्वयं शक्ति नहीं है, परन्तु आपकी भक्ति मुझे स्तोत्र रचनेके लिए चंचल करती है। इससे इस स्तोत्रकी रचनामें आपकी भक्ति ही एक कारण है॥ ६॥

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥ ७॥

जगवासियोंके पाप, भवभवके जुड़े, छोटे बड़े।
तुव विरद गायें, होहिं क्षय, छिनमें जिनेश, खड़े खड़े॥

---

१ चैत और बैशाख ये दो महिने मधु या बसन्त ऋतुके हैं।

ज्यों जगतव्यापी भ्रमरसम तम, नीलतम[1] निशिसमयको।
ततकाल ही दिनकर-किरनसों, प्राप्त होवहि विलयको ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(आक्रान्तलोकम्) जिसने लोकको ढक लिया है, और जो (अलिनीलम्[2]) भ्रमरके समान काला है, ऐसे (शार्वरम्) रात्रिके (अशेषम्) सम्पूर्ण (अन्धकारम्) अंधकारको (आशु) शीघ्रतासे (सूर्यांशुभिन्नम् इव) जैसे सूर्यकी किरणें नष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार हे भगवान्, (त्वत्संस्तवेन) तुम्हारे स्तवनसे (शरीरभाजाम्) जीवधारियोंका (भवसन्ततिसन्निबद्धं) जन्म-जरा-मरणरूप संसार-परम्परासे बँधा हुआ (पापं) पाप (क्षणात्) क्षणभरमें (क्षयम्) नाशको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जैसे अंधकारको सूर्य मिटा देता है, उसी प्रकार आपके स्तोत्रसे जीवोंके पाप क्षय हो जाते हैं ॥ ७ ॥

मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियाऽपि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥ ८ ॥

जिनराज अस जिय जानिकै, यह आपकी विरदावली[3]।
थोरी समझ मेरी, तऊ प्रारंभ करत उतावली ॥

---

१ अत्यन्त नीला (काला)। २ कहीं कहीं नीले रंगमें कालेका उपचार किया जाता है। ३ स्तोत्रमाला।

हरिहै सुमन सो सज्जननके, प्रभु प्रभूत-प्रभावसों।
जलबिन्दु जैसे जलज-दल परि, दिपत मुकता-भावसों ॥८॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ, (इति मत्वा) इस प्रकार पापका नाश करनेवाला मानकर (तनुधिया अपि मया) थोड़ी सी बुद्धिवाला हूँ, तो भी मेरे द्वारा (इदम्) जो यह (तव) तुम्हारा (संस्तवनं) स्तोत्र (आरभ्यते) आरंभ किया जाता है, सो (तव) तुम्हारे (प्रभावात्) प्रभावसे (सतां) सज्जन पुरुषोंके (चेतः) चित्तको (हरिष्यति) हरण करेगा। जैसे कि (नलिनीदलेषु) कमलिनीके पत्तोंपर (उदबिन्दुः) पानीका विन्दु (ननु) निश्चयसे (मुक्ताफलद्युतिम्) मुक्ताफलकी शोभाको (उपैति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जैसे कमलिनीके पत्तोंपर साधारण जलके विन्दु भी उन पत्तोंके प्रभावसे मोती सरीखे जान पड़ते हैं, उसी प्रकार यह स्तोत्र यद्यपि अच्छा नहीं है, परन्तु आपके प्रभावसे सज्जनोंके चित्तको अवश्य हरेगा ॥ ८ ॥

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥ ९ ॥

---

१ आपके प्रभावसे।

सब दोषरहित जिनेश, तेरो विरद तो दूरहि रहै।
तुव कथा ही इस जगतके, सब पापपुंजनको दहै॥
सूरज रहत है दूर ही, पै तासुकी किरनावली।
सरवरनमें[1] परि करत है, प्रमुदित सकल कुमुदावली॥९॥

अन्वयार्थ—जैसे (सहस्रकिरणः) सूर्य तो (दूरे) दूर ही रहो, (प्रभा एव) उसकी प्रभा ही (पद्माकरेषु) तालावोंमें (जलजानि) कमलोंको (विकासभाञ्जि) प्रकाशमान (कुरुते) कर देती है, उसी प्रकार हे जिनेन्द्र, (अस्तसमस्तदोषं) अस्त हो गये हैं, समस्त दोष जिसके अर्थात् दोषरहित ऐसा (तव) तुम्हारा (स्तवनं दूरे आस्तां) स्तोत्र तो दूर ही रहे, (त्वत्संकथा अपि) तुम्हारी चर्चा ही, (जगतां) जगतके जीवोंके (दुरितानि) पापोंको (हनति) नाश करती है।

भावार्थ—सूर्यके उदयसे पहले जो उसकी प्रभा फैलती है, उससे ही जब कमल खिल उठते हैं, तब सूर्यके उदयसे कमल खिलेंगे इसमें तो कहना ही क्या है! इसी प्रकार आपकी चर्चा मात्रसे ही जब पाप नष्ट हो जाते हैं, तब आपके स्तोत्रसे तो होवेंगे ही। इसमें कुछ सन्देह नहीं है॥९॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषणभूत नाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभीष्टुवन्तः।

---

1 तालावोंके बीचमें पड़कर।

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

हे भुवन'भूषनरूप प्रभु, इसमें न कछु अचरज रहा।
जो सत्य-गुन-गायक तिहारे, होंहिं तुव सम नर महा ॥
जो स्वामि स्वाश्रित जननको, अपनी प्रभूत विभूतिसों।
अपने समान न करत, ताकी कहा बहु करतूतिसों ॥१०॥

अन्वयार्थ—(भुवनभूषणभूत) हे जगतके भूषणरूप भगवान्, (भुवि) संसारमें (भूतैः गुणैः) सत्य तथा समीचीन गुणोंकरके (भवन्तम्) आपको (अभिष्टुवन्तः) स्तवनकरनेवाले पुरुष यदि (भवतः) आपके ही (तुल्याः) समान (भवन्ति) होजाते हैं तो इसमें (अति अद्भुतं न) अधिक आश्चर्य नहीं है। (ननु) क्योंकि (नाथ) हे नाथ, (यः) जो कोई स्वामी (इह) यहां (आश्रितं) अपने आश्रित सेवकको (भूत्या) विभूतिकरके (आत्मसमं) अपने समान (न करोति) नहीं करता है, (तेन) उस से (किं वा) क्या लाभ ?

भावार्थ—हे भगवन्, जिसप्रकार उदारस्वामीका सेवक कालान्तरमें धनादिसे सहायता पा करके अपने स्वामीके समान् धनवान हो जाता

---

१ कोई कोई 'भुवनभूषण' और 'भूतनाथ' ऐसे दो सम्बोधन करके "हे भुवनके भूषण" और "हे जीवोंके नाथ" अर्थ करते हैं।

है, उसी प्रकार मैं भी आपका स्तवन करके आपके समान तीर्थंकर हो सकता हूँ ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युतिदुग्धसिंधोः
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥११॥

अनिमेष नित्य विलोकनीय, जिनेश तुमहिं विलोकके ।
पुनि और ठौर न तोष पावहिं, जन-नयन इस लोकके ॥
नव नीर पीकर चाँदनी-सौ, छीर-निधिकौ पावनो ।
कहो कौन पीवै सरितपतिको[1], खार-जल असुहावनो ॥११॥

अन्वयार्थ—हे भगवान्, (**अनिमेषविलोकनीयं**) अनिमेष अर्थात् टिमकाररहित नेत्रोंसे सदा देखने योग्य (**भवन्तम्**) आपको (**दृष्ट्वा**) देखकरके (**जनस्य**) भक्तजनके (**चक्षुः**) नेत्र (**अन्यत्र**) और जगह (**तोषम्**) सन्तोषको (**न उपयाति**) नहीं प्राप्त होते हैं । (**शशिकरद्युतिदुग्धसिन्धोः**) चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल है शोभा जिसकी, ऐसे क्षीरसमुद्रके (**पयः**) जलको (**पीत्वा**) पी करके (**कः**) कौन है, जो (**जलनिधेः**) समुद्रके (**क्षारं जलं**) खारे पानीको (**असितुं**) पीनेकी (**इच्छेत्**) इच्छा करे ?

---

1 समुद्रका ।

भावार्थ—जैसे क्षीरसमुद्रके मीठे जलको पीनेवाला फिर खारा पानी पीनेकी इच्छा नहीं करता है, उसी प्रकार जो आपके दर्शन कर लेता है उसे फिर दूसरे देवोंके देखनेसे संतोष नहीं ॥ ११ ॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

त्रिभुवनशिरोभूषण, अनूपम, शान्तभावनसों भरे ।
जिन रुचिर[1] शुचि[2] परमानुवनसों, आप बनिकै अवतरे ॥
ते अनु हते जगमें तिते ही, जानि ऐसी मोहि परै ।
जातैं[3] अपूरव आप जैसो, रूप नहिं कहुँ लखि परै ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**त्रिभुवनैकललामभूत**) हे तीन लोकके शिरोभूषणभूत भगवान (**यैः**) जिन (**शान्तरागरुचिभिः**) शान्त सुन्दर (**परमाणुभिः**) परमाणुओंसे (**त्वं**) तुम (**निर्मापितः**) बनाये गये हो, (**खलु**) निश्चय करके (**ते**) वे (**अणवः**) परमाणु (**अपि**) भी (**तावन्त एव**) उतने थे । (**यत्**)

---

१ सुन्दर । २ पवित्र । ३ क्योंकि (हेतु) ।

ये तस्यास्तनुनिर्माणे वेधसा साधनी कृतः अणवस्तृणावच्छेपास्त एव परमाणवः ॥ १६० आदिपुराण पर्व ४३

क्योंकि (ते समानम्) तुम्हारे समान (रूपम्) रूप (पृथिव्यां) पृथिवीमें (अपरं) दूसरा (न हि) नहीं (अस्ति) है।

भावार्थ—हे भगवन्, आपके शरीरकी रचना जिन पुद्गलपरमाणुओंसे हुई है, वे परमाणु संसारमें उतने ही थे। क्योंकि यदि वे परमाणु अधिक होते तो आप जैसा रूप औरोंका भी दिखलाई देता। परन्तु यथार्थमें आपके समान रूपवान् पृथिवीमें कोई दूसरा नहीं है ॥१२

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥

कहँ सुर-उरग-नर-नयन आनँद,-करन तुव मुखचंद है।
तिहुँलोक-उपमावृन्द जिहिंके, होत सम्मुख मंद है॥
अरु कहाँ शशिकौ मलिन बिम्ब, कलंकवारौ दाससौ॥
जो होय दिनके होत ही, छबिहीन श्वेत[१]पलाससौ ॥१३॥

अन्वयार्थ—हे नाथ (**सुरनरोरगनेत्रहारि**) देव, मनुष्य, और नागोंके नेत्रोंको हरन करनेवाला तथा (**निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्**) जीती हैं तीन लोककी, सारी उपमायें जिसने ऐसा, (**क्व**) कहाँ तो (**ते**) तुम्हारा (**वक्त्रं**) मुख और (**क्व**) कहाँ (**निशाकरस्य**) चन्द्रमाका

१ टेसू या ढाकके पत्ते जैसा।

(कलङ्कमलिनं) कलंकसे मलिन रहनेवाला (बिम्बं) मंडल, (यत्) जो कि (वासरे) दिनमें (पाण्डुपलाशकल्पम्) पलाशके अर्थात् ढाकके पत्ते जैसा (भवति) हो जाता है ।

भावार्थ—आपके सदा प्रकाशमान निष्कलंक मुखको चन्द्रमाकी उपमा नहीं दी जा सकती है । क्योंकि चन्द्र कलंकी है और दिनको ढाकके पत्ते जैसा सफेद प्रभाहीन हो जाता है ॥ १३ ॥

सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वर नाथमेकं
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

हे त्रिजगपति, पूरन कलाधरकी कला ज्यों ऊजरे[1] ।
गुन-गन तिहारे विमल अतिशय, भुवन तीनहुमें भरे ॥
जे परम प्रभुके आसरेमें रहें, नित सेवा करें ।
तिनकौ निवारन को करै, चाहे जहाँ विचरें फिरें ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(त्रिजगदीश्वर) हे तीन जगतके ईश्वर, (तव) तुम्हारे (सम्पूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्रा गुनाः) पूर्णिमाके चन्द्रमंडलकी कलाओं सरीखे उज्ज्वल गुण (त्रिभुवनं) तीनों भुवनोंको (लंघयति) लाँघ जाते हैं, क्योंकि (ये) जो गुण (एकं) एक अर्थात् अद्वितीय (नाथम्) तीन लोकके नाथको (संश्रिताः) आश्रय करके रहे हैं, (तान्) उन्हें (यथेष्टम्)

---

१ उजले, उज्ज्वल ।

स्वेच्छानुसार (संचरतः) सब जगह विचरण करनेसे (कः), कौन पुरुष (निवारयति) निवारण कर सकता है—रोक सकता है, कोई भी नहीं।

भावार्थ—जिन उत्तम गुणोंने आपका आश्रय लिया है, वे गुण जहाँ तहाँ इच्छापूर्वक गमन करते हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता है। क्योंकि वे आप जैसे तीन लोकके नाथ के आश्रित हैं और इसी कारण अर्थात् उन गुणोंके सर्वत्र विचरनेसे तीन लोक उन्हींसे व्याप्त हो रहा है।१४

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

अचरज कहो इसमें कहा, यदि अप्सरायें स्वर्गकी ।
तुव अचल दृढ मनको न तनिकहु, सुपथसों च्युत कर सकीं ।
जिहिने चलाये [1]अचल ऐसो, प्रलयको [2]मारुत महा ।
गिरिराज मंदर[3] के शिखरको, सो चलाय सकै कहा ? ॥१५॥

अन्वयार्थ— हे प्रभो (यदि) यदि (त्रिदशांगनाभिः) देवांगनाओं या अप्सराओं द्वारा (ते) तुम्हारा (मनः) मन (मनाक् अपि) किंचित् भी (विकारमार्गम्) विकारमार्गको (न नीतं) नहीं प्राप्त हुआ, तो (अत्र) इसमें (किम्) क्या (चित्रं) आश्चर्य है।

---

१ पर्वत । २ आंधी । ३ सुमेरु पर्वतके शिखरको ।

(**किं**) क्या (**कदाचित्**) कभी (**चलिताचलेन**) कम्पित किये हैं पर्वत जिसनें ऐसे (**कल्पान्तकालमरुता**) प्रलयकालके पवनसे (**मन्दराद्रिशिखरं**) सुमेरु पर्वतका शिखर (**चलितं**) चलायमान् हो सकता है ? कभी नहीं ।

भावार्थ—प्रलयकालकी आँधीसे सब पर्वत चलायमान् हो जाते हैं, परन्तु सुमेरुपर्वत किंचित् भी चलायमान् नहीं होता। इसी प्रकार यद्यपि देवांगनाओंने बहुतोंके चित्त चलायमान् कर दिये, परन्तु आपका चित्त रंचमात्र भी विकारयुक्त नहीं हुआ ॥ १५ ॥

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ॥१६॥

नहिं मेल बाती तेलको, नहिं नेकु जामें धूम हू ।
अरु करत है परगट निरंतर, जो जगत ये तीन हू ॥
जापै पवन-बल चलत नहिं, चल करत अचलनको अहो !
हेनाथ, तुम ऐसे अपूरब, जगप्रकाशक दीप हो ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(**नाथ**) हे नाथ, (**त्वं**) तुम (**निर्धूमवर्तिः**) धूम तथा बाती रहित, (**अपवर्जिततैलपूरः**) तैलके पूररहित, और जो (**चलिताचलानां**) पर्वतोंके चलायमान् करनेवाले (**मरुतां**)

पवनके (जातु न गम्यः) कदाचित् भी गम्य नहीं है ऐसे (जगत्प्रकाशः) जगतके प्रकाशित करनेवाले (अपरः) अद्वितीय, विलक्षण (दीपः) दीपक (असि) हो। क्योंकि आप (इदं) इस (कृत्स्नं) समस्त (जगत्त्रयम्) तीन जगतको (प्रकटीकरोषि) प्रकट करते हैं।

भावार्थ—संसारमें जो दीपक दिखाई देते हैं, उनमें धुआँ और बत्ती होती हैं, परन्तु आपमें वे (द्वेषरूपी धुआँ और कामकी दश-अवस्थारूप बत्ती) नहीं है। दीपकोंमें तैल होता है, आपमें तैल अर्थात् स्नेह (राग) नहीं है। दीपक जरासी हवाके झोकेसे बुझ जाता है, आप प्रलयकालकी हवासे भी चलित नहीं होते हैं। और दीपक एक घरको प्रकाशित करता है, आप तीन जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार आप जगतके प्रकाश करनेवाले एक अपूर्व दीपक हैं ॥१६॥

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ॥१७॥

छितितैं[1] छुपत[2] नहिं छिनहु[3], छाया राहुकी नहिं परत है।
जिहुँ जगतको जुगपत[4] सहज ही, जो प्रकाशित करत है ॥

---

१ पृथ्वीसे। २ अस्त होता है। ३ क्षणभरके लिए भी। ४ एक ही समयमें

धाराधरनके[1] उदरमें परि, जिहि प्रभाव न घटत है।
यों मुनिप[2], तव महिमा जगतमें, भानुहूतैं महत है॥ १७॥

अन्वयार्थ--आप (**न कदाचित्**) न तो कभी (**अस्तं**) अस्तको (**उपयासि**) प्राप्त होते हैं, (**न राहुगम्यः**) न राहुके गम्य हैं, अर्थात् आपको राहु ग्रस नहीं सकता है और (**न**) न (**अम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः**) बादलोंके उदरसे ही आपका महाप्रताप रुकता है और (**युगपत्**) एक समयमें (**सहसा**) सहज ही (**जगन्ति**) तीनों जगतको (**स्पष्टीकरोषि**) प्रकट करते हैं, इस प्रकार (**मुनीन्द्र**) हे मुनीन्द्र, (**लोके**) लोकमें आप (**सूर्यातिशायिमहिमा असि**) सूर्यकी महिमासे भी अधिक महिमा युक्त हैं।

भावार्थ--सूर्य सन्ध्याको अस्त हो जाता है, आप सदाकाल प्रकाशित रहते हैं। सूर्य एक जम्बूद्वीपको ही प्रकाशित करता है, आप तीन जगतके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। सूर्यको राहुका ग्रहण लगता है, आपको कोई दुष्कृत नहीं ग्रसता। सूर्यका प्रताप मेघ ढक लेते हैं, आपका प्रताप मतिश्रुतावधिमनः- पर्ययकेवलादि ज्ञानावरणीय कर्मोंके आवरणसे रहित है। इस प्रकार हे मुनिनाथ, आप सूर्यसे भी बड़े सूर्य हैं॥ १७॥

नित्योदयं दलित-मोह-महान्धकारं
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।

---

१ बादलोंके। २ हे मुनिराज।

विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति
विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥ १८ ॥

जो उदयरूप रहै सदा, पुनि मोह-तमको हनत है।
मुख राहुके न परै कबहुँ वारिद[1] न जिहिको ढकत है॥
हे नाथ, सो मुख-कमल तुव, धारत प्रकाश अमंद[2] है।
सोहत जगत-उद्योतकारी, अति अपूरब चंद है॥ १८॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (नित्योदयं) सदा उदयरूप रहता है, जो (दलितमोहमहान्धकारं) मोहरूपी महान् अन्धकारको नष्ट करता है, (न राहुवदनस्य) न राहुके मुखके (गम्यं) गम्य है, और (न वारिदानाम्) न बादलोंके गम्य है, अर्थात् जिसे न राहु ग्रसता है, और न बादल ढकते हैं, और जो (जगत्) जगत्को (विद्योतयत्) प्रकाशित करता है, ऐसा हे भगवन्, (तव) तुम्हारा (अनल्पकान्ति) अधिक कान्तिवाला (मुखाब्जम्) मुख कमल (अपूर्वशशाङ्कबिम्बम्) विलक्षण चन्द्रमाके बिम्बरूप (विभ्राजते) शोभित होता है।

भावार्थ—आपका मुखकमल एक विलक्षण चन्द्रमा है। क्योंकि चन्द्रमा तो केवल रात्रिमें ही उदित होता है, परन्तु आपका मुख सदा ही उदयरूप रहता है? चन्द्रमा साधारण अन्धकारका नाश करता है, परन्तु आपका मुख अज्ञान अथवा मोहनीयकर्मरूप महाअन्धकारको नष्ट करता है। चन्द्रमाको राहु ग्रसता है, बादल छुपा

---

१ बादल। २ मन्द नहीं, अर्थात् अधिक प्रकाशमान्।

लेते हैं, परन्तु आपके मुखको ढकनेवाला कोई नहीं है। चन्द्रमा पृथ्वीके कुछ भागको प्रकाशित करता है, परन्तु आपका मुख तीन जगतको प्रकाशित करता है। चन्द्रमा थोड़ी कांतेवाला है, परन्तु आपके मुखकी अनन्त कांति है ॥ १८ ॥

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ ।
निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके ।
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

हे नाथ, यदि तुव तमहरन वर, मुख-मयंक अमंद है।
तौ व्यर्थ ही सूरज दिवसमें, और निशिमें चंद है॥
जो शालिके बहु वननसों, चहुँ ओर शोभित हो रहा।
उस देशमें जलभरे मेघनको, कहो कारज कहा ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(**नाथ**) हे नाथ, (**युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु**) आपके मुखरूपी चन्द्रमासे अन्धकारके नष्ट हो जानेपर (**शर्वरीषु**) रात्रियोंमें (**शशिना**) चन्द्रमासे (**वा**) अथवा (**अह्नि**) दिनमें (**विवस्वता**) सूर्यसे (**किं**) क्या? (**जीवलोके निष्पन्नशालिवनशालिनि**) जीवलोकमें अर्थात् देशमें धान्यके खेतोंके पक चुकने पर (**जलभारनम्रैः**) पानीके भारसे झुके हुए (**जलधरैः**) बादलोंसे (**कियत् कार्यं**) क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ—ऐसी जगहमें जहाँकी कि धान पक गई है, जिस प्रकार बादलोंका बरसना व्यर्थ है; उसी प्रकार जहाँ आपके मुखरूपी चन्द्रमासे अज्ञान अन्धकारका नाश हो चुका है, वहाँ रात्रि और दिनमें चन्द्र सूर्य व्यर्थ ही शीत तथा आतापके करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

जो स्व-पर-भावप्रकाशकारी, ज्ञान तुममें लसत है।
सो हरिहरादिक नायकोंमें, नाहिं किंचित दिसत है॥
जैसो प्रकाश महान मनिमें, महतताको लहत है।
तैसो न कबहूँ कांतिजुत हूँ, काचमें लख परत है ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—हे नाथ, (कृतावकाशं) किया है अनन्त पर्यायात्मक पदार्थोंका प्रकाश जिसने, ऐसा (ज्ञानं) केवलज्ञान (यथा) जैसा (त्वयि) तुममें (विभाति) शोभायमान् है, (तथा) वैसा (हरिहरादिषु) हरिहरादिक (नायकेषु) नायकोंमें[1] (नैवं) नहीं है। (यथा) जिस प्रकार (तेजः) प्रकाश (स्फुरन्मणिषु) स्फुरायमान मणियोंमें (महत्त्वं) मयत्त्वको (याति) प्राप्त होता है, अर्थात् बढ़ जाता है (एवं तु) वैसा तो (किरणाकुले)

---

१ अपने अपने शासनके नायकों अर्थात् स्वामियोंमें।

(अपि) किरणोंसे चमकते हुए भी (काचशकले) काचके टुकड़ेमें (न) नहीं होता।

भावार्थ—जो प्रकाश मणियोंमें शोभाको पाता है, वह कांचके टुकड़ोंमें नहीं पासकता। इसी प्रकार जैसा स्वपरप्रकाशक ज्ञान आपमें है वैसा अन्य देवोंमें नहीं पाया जाता ॥ २० ॥

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः
कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेपि ॥२१॥

नरेन्द्रछन्द या जोगीरासा।

हरिहर आदिक देवनको ही, अवलोकन मोहि भावै ।
जिनहिं निरखकर जिनवर, तुममें, हृदय तोष अति पावै ॥
पै कहा तुम दरसनसों भगवन्, जो इस जगके माहीं ।
परभवमें हू अन्य देव मन हरिवे समरथ नाहीं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ, मैं (हरिहरादयः दृष्टा एव) हरिहरादिक देवोंका देखना ही (वरं मन्ये) अच्छा मानता हूँ। (येषु दृष्टेषु) जिनके देखनेसे (हृदयं) हृदय (त्वयि) तुममें (तोषं) संतोषको (एति) पाता है और (भवता वीक्षितेन) आपके देखनेसे (किं) क्या? (येन) जिससे कि (भुवि) पृथ्वीमें (अन्यः कश्चित्) कोई अन्य देव (भवान्तरे अपि) दूसरे जन्ममें भी (मनः न हरति) मन हरण नहीं कर सकता।

भावार्थ—हरिहरादिक देवोंको देखना अच्छा है। क्योंकि जब हम उन्हें देखते हैं, और रागद्वेषादि दोषोंसे भरे हुए पाते हैं, तब आपमें हमको अतिशय संतोष होता है। क्योंकि आप वीतराग सर्व दोषोंसे रहित हैं। परन्तु आपके देखनेसे क्या? कुछ नहीं। क्योंकि आपको देख लेनेसे फिर संसारका कोई भी देव मनको हरण नहीं कर सकता। सारांश—दूसरोंको देखनेसे तो आपमें संतोष होता है, यह लाभ है और आपके देखनेसे किसी भी देवकी ओर चित्त नहीं जाता, यह हानि है। (व्याजनिंदा और व्याजस्तुति अलंकार) ॥ २१ ॥

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥

अहैं सैकड़ों सुभगा नारीं, जो बहु सुत उपजावैं।
पै तुमसम सुपूतकी जननीं, यहाँ न और दिखावैं॥
यद्यपि दिशि-विदिशाएँ सिगरीं, धरैं नछत्र अनेका।
पै प्रतापि रविको उपजावे, पूर्वदिशा ही एका॥ २२॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्, (**स्त्रीणां शतानि**) स्त्रियोंके सैंकड़ों अर्थात् सैंकड़ों स्त्रियाँ (**शतशः**) सैंकड़ों (**पुत्रान्**) पुत्रोंको (**जनयन्ति**) जनती हैं। परन्तु (**अन्या**) दूसरी (**जननी**) माता (**त्वदुपमं**) तुम्हारे जैसे (**सुतं**) पुत्रको (**न प्रसूता**) उत्पन्न नहीं कर सकती है। सो ठीक ही है। क्योंकि (**सर्वा दिशः**)

सम्पूर्ण अर्थात् आठों दिशाएँ (भानि) नक्षत्रोंको (दधति) धारण करती हैं, परन्तु (स्फुरत् अंशुजालं) दैदीप्यमान् है किरणोंका समूह जिसका, ऐसे (सहस्ररश्मि) सूर्यको एक (प्राचीदिक् एव जनयति) पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक पूर्व दिशा ही सूर्यको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार एक आपकी माता ही ऐसी है, जिसने आप जैसे पुत्रको जन्म दिया ॥ २२ ॥

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः ।२३।

हे मुनीश, मुनिजन तुमकों नित, परम पुरुष परमानैं ।
अंधकार नाशनके कारन, निर्मल दिनकर जानैं ॥
तुम पाएतैं भलीभाँतिसों, नीच मीच जय होई ।
यासों तुमहिं छाँड़ि शिवपद-पथ, विघन रहित नहिं कोई ॥२३॥

अन्वयार्थ—(**मुनीन्द्र**) हे मुनीन्द्र, (**मुनयः**) मुनि जन (**त्वाम्**) तुम्हें (**परमं**[1] **पुमांसं**) परम पुरुष, और (**तमसः**)

१—वेदांहमेतं पुरुषं महान्तं । आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव विदित्वा अपनयन्ति मृत्युं, नान्यः पन्थः विद्यते अयनाय ।
—यजुर्वेद-पुरुषसूक्त अ० २९

अंधकारके (पुरस्तात्) आगे (आदित्यवर्णम्) सूर्यके स्वरूप तथा (अमलं) निर्मल (आमनन्ति) मानते हैं । तथा वे मुनिजन (त्वाम् एव) तुम्हें ही (सम्यक्) भले प्रकार (उपलभ्य) पा करके (मृत्युं) मृत्युको (जयन्ति) जीतते हैं । इस लिए तुम्हारे अतिरिक्त (अन्यः) दूसरा कोई (शिवः) कल्याणकारी अथवा निरुपद्रव (शिवपदस्य) मोक्षका (पन्थाः न) मार्ग नहीं है, ।

भावार्थ—मुनिजन आपको परमपुरुष मानते हैं । रागद्वेषरूपी मलसे आप रहित हैं, इस कारण निर्मल मानते हैं । मोह अंधकारको आप नाश करते हैं, इस कारण सूर्यके समान मानते हैं । आपके पा लेनेसे मृत्यु नहीं आती, इस कारण मृत्युंजय मानते हैं और आपके अतिरिक्त कोई निरुपद्रव मोक्षका मार्ग नहीं है, इस कारण आपको ही वे मोक्षका मार्ग मानते हैं ॥ २३ ॥

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसङ्ख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥२४॥

कहैं संतजन तोहि निरंतर, अखय अनंत अनूपा ।
आद्य अचिंत्य असंख्य अमल विभु, केवलज्ञानस्वरूपा ॥
एक अनेक ब्रह्म परमेश्वर, कामकेतु योगीशा ।
जोगरीतिको जाननवारो, श्रीजिनेन्द्र जगदीशा ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—हे प्रभो, (**सन्तः**) सन्त पुरुष (**त्वाम्**) तुम्हें (**अव्ययं**) अव्यय, (**विभुं**) परम ऐश्वर्यसे शोभित, (**अचिन्त्यं**) चिन्तनमें नहीं आनेवाले, (**असंख्यं**) असंख्य गुणोंवाले, (**आद्यं**) आदि तीर्थंकर अथवा पंचपरमेष्ठीमें आदि अरहंत, (**ब्रह्माणं**) निर्वृत्ति-रूप अथवा सकलकर्मरहित, (**ईश्वरं**) ईश्वर (**अनन्तम्**) अन्तरहित अथवा अनन्त चतुष्टयसहित (**अनंगकेतुम्**) कामदेवके नाश करनेके लिये केतुरूप, (**योगीश्वरं**) ध्यानियोंके प्रभु, (**विदितयोगं**) यम आदि आठ प्रकारके योगोंके जाननेवाले (**अनेकं**) गुणपर्यायकी अपेक्षा अनेक रूप, (**एकं**) जीव द्रव्यकी अपेक्षा एक अथवा अद्वितीय (**ज्ञानस्वरूपं**) केवलज्ञानस्वरूप चिद्रूप और (**अमलं**) कर्ममलरहित (**प्रवदन्ति**) कहते हैं।

भावार्थ—साधु पुरुष आपकी पृथक् पृथक् गुणोंकी अपेक्षा अव्यय, अचिन्त्य, विभु आदि कहकर स्तुति करते हैं ॥ २४ ॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

विबुधन[1] पूज्यौ बुद्धि-बोध तुव, यासों बुद्ध तुम्ही हो।
तीन भुवनके शंकर[2] यासों, शंकर शुद्ध तुम्ही हो ॥

---

१ देवोंने । २ कल्याण अथवा सुखके करनेवाले ।

शिव-मारगके विधि-विधानसों, साँचे तुम्ही विधाता ।
त्यों हो शब्द अर्थसों तुम ही, पुरुषोत्तम जगत्राता ॥२५॥

अन्वयार्थ— हे नाथ, (**विबुधार्चितबुद्धिबोधात्**[3]) देवोंने तुम्हारे बुद्धिबोध अर्थात् केवलज्ञानकी पूजा की है, इस कारण (**त्वम्-एव**) तुम ही (**बुद्धः**) बुद्ध हो, (**भुवनत्रयशंकरत्वात्**) तीन लोकके जीवोंके शं अर्थात् सुख या कल्याणके करनेवाले हो, इस लिए (**त्वं**) तुम ही (**शंकरः असि**) शंकर हो और (**धीर**) हे धीर, (**शिवमार्गविधेः**) मोक्षमार्गकी रत्नत्रयरूप विधिका (**विधानात्**) विधान करनेके कारण तुम ही (**धाता असि**) विधाता हो । इसी प्रकार (**भगवन्**) हे भगवन्, (**त्वम् एव**) तुमही (**व्यक्तं**) प्रकटपनेसे पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण (**पुरुषोत्तमः**) पुरुषोत्तम वा नारायण (**असि**) हो ।

भावार्थ—संसारमें माने जाने वाले चारों प्रसिद्ध देव बुद्ध, महादेव, ब्रह्मा, और विष्णु—गुणकी अपेक्षा आप ही हैं ।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

---

१ ब्रह्मा । २ नारायण श्रीकृष्ण । ३ कोई कोई इस पदके दो खंड करके अर्थ करते हैं, एक तो "विबुधार्चित" अर्थात् हे देवोंके द्वारा पूज्य, और दूसरा "बुद्धिबोधात्" अर्थात् केवलज्ञानके बोधसे ।

तीन भुवनके विपद-विदारक, तारन-तरन नमस्ते ।
वसुधातलके निरमल भूषन, दूषन-दरन नमस्ते ॥
तीनलोकके परमेश्वर जिन, विगत-विकार नमस्ते ।
अति गंभीर जगत-जलनिधिके शोषनहार नमस्ते ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ, (त्रिभुवनार्तिहराय) तीन लोककी पीड़ाको हरण करनेवाले ऐसे (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है, (क्षितितलामलभूषणाय) पृथ्वीतलके एक निर्मल अलंकाररूप (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है, (त्रिजगतःपरमेश्वराय) तीनों जगत्के परम ईश्वर (तुभ्यं) तुम्हें (नमः) नमस्कार है, और (जिन) हे जिन, (भवोदधिशोषणाय) संसारसमुद्रके सोखनेवाले (तुभ्यं) आपको (नमः) नमस्कार है ॥ २६ ॥

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोसि ॥२७

हे मुनीश, सारे गुन मिलकर, आय बसे तुवमाहीं ।
ह्वै अति सघन, रह्यौ तातें अवकाश लेश हू नाहीं ॥
यह लखि दोषवृन्द सपनेहुँमें, जो नहि तुव तन जोवै ।
तो नहिं अचरज, बहुआश्रयतैं गरब सबनिको होवै ॥ २७॥

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनियोंके ईश्वर, (यदि) यदि

---

१ पृथ्वीतलके । २ जिनके ठहरनेके बहुतसे आश्रय होते हैं, उन्हें घमंड होता ही है ।

(अशेषैः) सम्पूर्ण (गुणैः) गुणोंने (निरवकाशतया) अवकाश या जगह न रहनेके कारण (त्वं संश्रितः) तुम्हारा आश्रय ले लिया (अपि) तथा (उपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः) प्राप्त किये हुए अनेक देवादिकोंके आश्रयसे जिन्हें घमंड हो रहा है, ऐसे (दोषैः) दोषोंने (स्वप्नान्तरे अपि) सपनेमें भी (कदाचित् अपि) किसी समय भी तुम्हें (न ईक्षितः असि) नहीं देखा, तो (अत्र) इसमें (को नाम विस्मयः) कौनसा आश्चर्य हुआ ? कुछ नहीं ।

भावार्थ—संसारमें जितने गुण थे, उन सबने तो आपमें इस तरह ठसाठस निवास कर लिया कि फिर कुछ भी अवकाश शेष नहीं रहा । और दोषोंने यह सोचकर घमंडसे आपकी ओर कभी देखा भी नहीं कि जब संसारके बहुतसे देवोंने हमें आश्रय दे रक्खा है, तब हमको एक जिनदेवकी क्या परवाह है ? उनमें हमको स्थान नहीं मिला, तो न सही। सारांश यह है कि, आपमें केवल गुणोंका ही समूह है, दोषोंका नाम भी नहीं है ॥ २७ ॥

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानं
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्त्ति ॥२८॥

हे जिनवर, अशोकतल तेरो, विमलरूप मन मोहै ।
किरन-निकर-[1]वितरनसों चँहुधा, अस उपमायुत सोहै ॥

१ किरणोंका समूह ।

जैसे जलधरके समीप, सोहत बहु किरनस्वरूपा ।
तेजमान [1]तमतोमहरन वर, दिनकरबिंब अनूपा ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(उच्चैः) ऊँचे (अशोकतरुसंश्रितम्) अशोक वृक्षके आश्रयमें स्थिर और (उन्मयूखं) ऊपरकी ओर निकलती हैं किरणें जिसकी, ऐसा (भवतः) आपका (नितान्तं) अत्यन्त (अमलं) निर्मल (रूपं) रूप (स्पष्टोल्लसत् किरणम्) व्यक्तरूप ऊपरको फैली हैं किरणें जिसकी ऐसे, तथा (अस्ततमोवितानं) नष्ट किया है अंधकारका समूह जिसने ऐसे, (पयोधरपार्श्ववर्त्ति) बादलों के पास रहनेवाले (रवेः) सूर्यके (बिम्बं इव) बिम्बके समान (आभाति) शोभित होता है ।

भावार्थ—बादलोंके निकट जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार अशोक वृक्षके नीचे आपका निर्मल शरीर भासमान होता है । (भगवान्के आठ प्रातिहार्योंमेंसे पहले प्रातिहार्यका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है) ॥ २८ ॥

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥२९॥

मनिकिरननसों चित्रित दुतियुत, सिंहासन मन भावै ।
तापै जिन, तुव कनक-वरन तन, ऐसी उपमा पावै ॥

१ अंधकारके समूहको हरन करनेवाला ।

तान [1]वितान गगनमें अपनी, किरननको सुखदाई ।
ऊँचे [2]उदयाचलके ऊपर, [3]दिनकर देत दिखाई ॥२९॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्, (**मणिमयूखशिखाविचित्रे**) मणियों की किरणपंक्तिसे चित्र विचित्र (**सिंहासने**) सिंहासनपर (**तव**) तुम्हारा (**कनकावदातम्**) सुवर्णके समान मनोज्ञ (**वपुः**) शरीर (**तुङ्गोदयाद्रिशिरसि**) ऊँचे उदयाचलके शिखरपर (**वियद्विलसदंशुलतावितानं**) आकाशमें शोभित हो रहा है किरणरूपी लताओंका चँदोवा जिसका ऐसे (**सहस्ररश्मेः बिम्बं इव**) सूर्यके बिंबकी तरह (**विभ्राजते**) अतिशय शोभित है ।

भावार्थ—उदयाचल पर्वतके शिखरपर जैसे सूर्य-बिम्ब शोभा देता है, उसी प्रकार मणिजटित सिंहासनपर आपका शरीर शोभित होता है । (यह दूसरे प्रातिहार्यका वर्णन है ।) ॥ २९ ॥

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

कनक-वरन तुव [5]सुतनु, जासुपर, [6]कुन्दसुमनद्युतिधारी ।
चारु चमर चहुँ ढुरत [7]विशद अति, सोहत यों मनहारी ॥

---

१ चंदोवा । २ जिस पर्वतसे सूर्य उदय होता है, उसको उदयाचल कहते हैं । ३ सूर्य । ४ आकाशमें जो सूर्यकी किरणें फैलती हैं, वे उदयकी अवस्थामें रक्तवर्ण होती हैं । ५ सुन्दर शरीर । ६ कुन्दके पुष्पके समान शोभाको धारण करनेवाले । ७ निर्मल ।

सुरगिरिके कंचनमय ऊँचे, तटपर ज्यों लहरावै।
झरननकी उज्जल जलधारा, उदित [2]इन्दुसी भावै॥३०॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र, (**कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्**) कुन्दके समान उज्ज्वल ढुरते हुए चँवरोंसे मनोहर हो रही है शोभा जिसकी ऐसा (**कलधौतकांतम्**) सोने सरीखी कान्तिवाला (**तव वपुः**) आपका शरीर (**उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्**) उदयरूप चंद्रमाके समान निर्मल झरनोंकी जलधारा जिनमें बह रही है, ऐसे (**शातकौम्भम्**) सुवर्णमयी (**सुरगिरेः**) सुमेरु पर्वतके (**उच्चैस्तटं इव**) ऊँचे तटोंकी भांई (**विभ्राजते**) शोभित होता है।

भावार्थ—सुवर्णमय सुमेरुपर्वतके दोनों तटोंपर मानों निर्मल जल वाले दो झरने झरते हों, इस प्रकारसे भगवान्‌के सुवर्ण सदृश शरीर पर दो उज्ज्वल चमर ढुर रहे हैं। (यह तीसरे प्रातिहार्य का वर्णन है।) ॥३०॥

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त-
मुच्चैःस्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्॥३१॥

ससिसमान रमनीय प्रखर रवि-[3]तापनिवारनहारे।
मुकतनकी [4]मंजुल रचनासों, अतिशय शोभा धारे॥
तीन छत्र ऊँचे तुव सिरपर, हे जिनवर, मन भावैं।
तीन जगतकी परमेश्वरता, वे मानों प्रगटावैं॥३१॥

---

१ सुमेरुपर्वतके। २ चन्द्रमासरीखी। ३ सूर्यका आतप-गर्मी। ४ सुन्दर।

अन्वयार्थ—हे नाथ, (**शशाङ्ककान्तम्**) चन्द्रमाके समान रमणीय, (**उच्चैःस्थितं**) ऊपर ठहरे हुए, तथा (**स्थगितभानुकरप्रतापम्**) निवारण किया है सूर्यकी किरणोंका प्रताप जिन्होंने, और (**मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्**) मोतियोंके समूहकी रचनासे बढ़ी हुई है शोभा जिनकी ऐसे (**तव**) आपके (**छत्रत्रयं**) तीन छत्र (**त्रिजगतः**) तीन जगत्‌का (**परमेश्वरत्वम्**) परम ईश्वरपना (**प्रख्यापयत्**) प्रकट करते हुए (**विभाति**) शोभित होते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्, आपके तीन छत्र तीनों जगतके परमेश्वरपनेको प्रकट करते हैं। अर्थात् एक छत्रसे पाताल लोकका, दूसरेसे मर्त्यलोकका, और तीसरे छत्रसे देवलोकका स्वामित्व प्रकट होता है। (यह चौथे प्रातिहार्यका वर्णन है) ॥ ३१ ॥

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग-
स्त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

रुचिर गभीर उच्च सब्दनिसों, दस-दिसि पूरनवारो ।
त्रिभुवनजनकों सुभ संगमकी, सम्पति वितरनहारो ॥
गगनमाहिं पुनि तुव जसकी जो, महिमा गावत छाजै ।
सो दुन्दुभि जिनराज-विजयकी, करत घोषणा बाजै ॥३२॥

अन्वयार्थ—हे जिनेन्द्र, (**गम्भीरताररवपूरितदिग्विभागः**) गंभीर तथा ऊँचे शब्दोंसे दिशाओंको पूरित करनेवाला, (**त्रैलोक्य-**

लोकशुभसंगमभूतिदक्षः) तीन लोकके लोगोंको शुभसमागमकी विभूति देनेमें चतुर ऐसा और (ते) आपके (यशसः) यशका (प्रवादी) कहनेवाला—प्रकट करनेवाला (दुन्दुभिः) दुन्दुभि (खे) आकाशमें (सद्धर्मराजजयघोषणघोषकःसन्) सद्धर्मराजकी अर्थात् तीर्थंकर-देवकी जयघोषणाको प्रकट करता हुआ (ध्वजति) गमन करता है।

भावार्थ—समवसरणमें जो दुन्दुभि बजते हैं, वे यथार्थमें आपके यशका गायन करते हुए आपकी विजय-घोषणा करते हैं। (यह पाँचवाँ प्रातिहार्य है।) ॥ ३२ ॥

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्घा।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा॥३३॥

गंधोदक बिंदुनसों पावन, मंद पवनकी प्रेरी।
पारिजात मंदार आदिके, नव कुसुमनकी ढेरी॥
ऊरधमुखि ह्वै नभसों बरसत, दिव्य अनूप सुहाई।
[1]मानो तुव वचननकी पंगति, रूपराशि धरि छाई॥३३॥

---

१ आचार्य प्रभाचन्द्रकी टीकामें 'वयसां ततिः' ऐसा भी पाठ है और उसका अर्थ 'पक्षियोंकी पंक्ति' किया है। अर्थात् पुष्पवृष्टि ऐसी जान पड़ती है, मानों आकाशसे पक्षियोंकी श्रेणी पृथ्वीपर उतरती हो। जो महाशय 'वयसां ततिः' पाठको पसन्द करें, वे यहां इस प्रकार पढ़ें—मानों यह विहगनकी पंगति देवलोकसों आई।" रूपराशिसे यह प्रयोजन है कि दिव्यध्वनि जो देखी नहीं जाती, वह मानो दृश्य अर्थात् पुद्गलरूप होकर फैल रही है।

अन्वयार्थ—हे नाथ (**गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता**) गन्धोदककी बूँदोंसे मंगलीक और मन्दमन्द वायुके साथ पड़नेवाली, (**उद्धा**) ऊर्ध्वमुखी[1] और (**दिव्या**) दिव्य[2] ऐसी (**मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजातसन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिः**) मन्दार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षोंके फूलोंकी वर्षा (**दिवः**) आकाशसे (**पतति**) पड़ती है (**वा**) अथवा (**ते**) आपके (**वचसां**) वचनोंकी (**ततिः**) पंक्ति ही है।

भावार्थ—भगवान्के समवसरणमें जो फूलोंकी वर्षा होती है, वह ऐसी जान पड़ती है, मानो भगवान्के दिव्य वचन ही बरस रहे हैं। यह छठा प्रातिहार्य है।) ॥ ३३ ॥

[3]शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते
लोकत्रय[4]द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्या[5]॥

जाकी अमित सुदुतिके आगैं, सब दुतिवंत लजावैं।
अगनित उदित दिवाकर[6] हू, जिहि समता नहिं कर पावैं॥

---

१ भगवानके समवसरणमें जो फूल बरसते हैं, उनके मुँह उपरको रहते हैं, और डंठल नीचेको। श्रीरत्नचन्द्रसूरिने अपनी सस्कृत टीकामें उद्धाका अर्थ श्लाघ्य प्रशंसनीय लिखा है। २ देवलोकमें जो उत्पन्न हो, अथवा देवोंके द्वारा जो की जाय। ३ '[illegible]चत्प्रभा —' भी पाठ है। ४ 'लोकत्रये' भी पाठ है। ५ 'सोमसौम्यां' भी पाठ है, जो 'निशाम्' का विशेषण होता है। इसका अर्थ यों होता है कि चन्द्रमाकरके मनोहर अथवा शीतल, रात्रिको भी जीतती है। ६ सूर्य।

विभु, ऐसो तेजपुंज तुव, भामंडल अति नीको।
ससिसम[1] सौम्य तऊ जीतत है, दीपतिसों रजनीको ॥३४॥

अन्वयार्थ—हे विभो, (**प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या**) देदीप्यमान सघन और अनेक संख्यावाले सूर्योंके तुल्य (**ते विभोः**) तुम्हारे (**शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा**) शोभायमान भामंडलकी अतिशय प्रभा (**लोकत्रयद्युतिमतां**) तीनों लोकोंके प्रकाशमान पदार्थोंकी (**द्युतिम्**) द्युतिको (**आक्षिपन्ति**) तिरस्कार करती हुई **सोमसौम्या अपि**) चन्द्रमाकी नांई सौम्य होनेपर भी (**दीप्त्या**) अपनी दीप्तिके द्वारा (**निशाम् अपि**) रात्रिको भी (**जयति**) जीतती है।

भावार्थ—यह विरोधाभास अलंकार है। इसमें विरोध तो यह है कि, **'सोम-सौम्या'** अर्थात् जो प्रभा चन्द्रमाकी होगी, वह रात्रिको सुशोभित करेगी परंतु यहाँ कहा है कि जीतती है—आच्छादित करती है। और विरोधका परिहार इस प्रकार होता है कि, **'दीप्त्या'** अर्थात् दीप्तिसे रात्रिको जीतती है, अर्थात् रात्रिका अभाव करती है। सारांश यह है कि, भामंडलकी प्रभा यद्यपि कोटि सूर्यके समान तेज वाली है, परंतु आताप करनेवाली नहीं है। चन्द्रमाके समान शीतल है और रात्रिका अन्धकार नहीं होने देती है। (यह सातवां प्रातिहार्य।) ॥ ३४ ॥

---

१ जो महाशय सोमसौम्यां पाठको ठीक समझते हैं, उन्हें भाषापद्यमें इस प्रकार पाठान्तर करना चाहिये—" तौ हू निज दीपतितैं जीतत शीतल-शशि-रजनीको।"

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

स्वर्ग और अपवर्ग-मार्गकी, बाट बतावनहारी ।
परम धर्मके तत्त्व कहनको, चतुर त्रिलोकमँझारी ॥
होय जगतकी सब भाषनिमें, जो परिनत सुखदानी ।
ऐसी विशद अर्थकी जननी, हे जिनवर, तुव वानी ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—हे जिनदेव, (**स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः**) स्वर्ग और मोक्ष जानेके मार्गका अन्वेषण करनेमें इष्ट (आवश्यक) अथवा स्वर्ग-मोक्ष-मार्गको शोधनेवाले मुनियोंको इष्ट तथा (**त्रिलोक्यः**) तीन लोकके (**सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुः**) समीचीन धर्मके तत्त्वोंके कहने में एक मात्र चतुर और (**विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणैः**) निर्मल जो अर्थ और उनके समस्त भाषाओंके परिणामनरूप जो गुण, उन गुणोंसे (**प्रयोज्यः**) जिसकी योजना होती है, ऐसी (**ते**) आपकी (**दिव्यध्वनिः**) दिव्यध्वनि (**भवति**) होती है ।

भावार्थ—भगवान्‌की वाणीमें यह अतिशय है कि सुननेवालेकी हरएक भाषामें उसका परिणमन हो जाता है । अर्थात् भगवान्‌की वाणी जो सुनता है, वही अपनी भाषामें उसे सरलतासे समझ लेता है । (आठवाँ प्रातिहार्य ।) ॥ ३५ ॥

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

सुवरन-वरन खिले कमलनकी, ललित कांति जो धारैं ।
त्यों ही नख-किरननकी चहुँधा, छटा अनूप उछारैं ॥
अस तुव चरननकी डग जहँ जहँ, परत अहो जिनराई ।
तहँ तहँ पंकज-पुंज अनूपम, रचत देवगन आई ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(**जिनेंद्र**) हे जिनेंद्र (**उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्ज-कान्ती**) फूले हुए सुवर्णवर्ण नवीन कमल-समूहके सदृश कांति धारण करनेवाले और (**पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ**) नखोंकी चारों ओर उछलती हुई किरणोंके समूहकरके सुन्दर ऐसे (**तव**) आपके (**पादौ**) चरण (**यत्र**) जहाँपर (**पदानि**) डग (**धत्तः**) रखते हैं, (**तत्र**) वहाँपर (**विबुधाः**) देवगण (**पद्मानि**) कमलोंको (**परि-कल्पयन्ति**) परिकल्पित करते हैं, अर्थात् कमलोंकी रचना करते हैं ।

भावार्थ—जहाँ जहाँ भगवान् चरण रखते हैं, वहाँ वहाँ देवता कमलोंकी रचना करते जाते हैं ॥ ३६ ॥

इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।

याद्दक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा
ताद्दक्कुतोग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥३७॥

इहि विधि [1]वृष-उपदेशसमय तुव, समवसरनके माहीं।
भई विभूति अपूरव हे जिन, सो औरनके नाहीं।
जैसी प्रभा देखियतु रविमें, तेजवती तमहारी।
तैसी [2]उडुगणमाहिं कहाँ दुति, जदपि प्रकाशनवारी ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र, (धर्मोपदेशनविधौ) धर्मोपदेशकी विधिमें अर्थात् धर्मका उपदेश देते समय समवसरणमें (इत्थं) पूर्वोक्त प्रकारसे (तव) आपकी (विभूतिः) समृद्धि (यथा) जैसी (अभूत्) हुई, (तथा) वैसी (परस्य) दूसरे देवोंके (न) नहीं हुई। सो ठीक ही है। (दिनकृतः) सूर्यकी (याद्दक्) जैसी (प्रहतान्धकारा) अन्धकारको नष्ट करनेवाली (प्रभा) प्रभा होती है, (ताद्दक्) वैसी प्रभा (विकाशिनः) प्रकाशमान (ग्रहगणस्य अपि) तारागणोंकी भी (कुतः) कहाँसे होवे ?

भावार्थ—यद्यपि तारागण थोड़े बहुत चमकनेवाले होते हैं, तो भी वे सूर्यके समान प्रकाशित नहीं हो सकते। इसी प्रकार यद्यपि और और देव हैं, तो भी आपकी समवसरण जैसी विभूतिको वे धारण नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

---

१ धर्मोपदेशके समय। २ तारागणोंमें।

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम् ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतन्तं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम्॥ ३८

मद-जल-मलिन विलोल[1] कपोलन,-पै इत उत मड़राके ।
कोप बढ़ायो जिहिको अलिगन, अतिशय शोर मचाके ॥
ऐसो उद्धत ऐरावतसम, गज जो सन्मुख धावै ।
तौ हू तुव पद-सेवक ताकों, देखि न नेकु डरावै ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—हे नाथ, (**श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूलमत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्**) चूँते हुए मदसे जिसके कपोलोंके मूल भाग मलीन तथा चंचल हो रहे हैं, और उनपर उन्मत्त होकर भ्रमण करते हुए भौंरे अपने शब्दोंसे जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं, ऐसे (**ऐरावताभम्**) ऐरावत हाथीके समान आकारवाले तथा (**उद्धतं**) उद्धत अर्थात् अंकुशादिको नहीं माननेवाले और (**आपतन्तं**) ऊपर आ पड़नेवाले (**इभम्**) हाथीको (**दृष्ट्वा**) देखकर (**भवत् आश्रितानां**) आपके आश्रयमें रहनेवालोंको (**भयं**) भय (**नो**) नहीं (**भवति**) होता है ।

भावार्थ—अत्यन्त उच्छृंखल हाथीको देखकर भी आपके भक्तजन भयभीत नहीं होते हैं ॥ ३८ ॥

---

१ अतिशय चंचल । २ मदोन्मत्त हाथीके कपोलोंसे मद चूँता रहता है और उसकी सुगन्धिसे भौंरे चारों ओरसे मँडराते तथा गुंजार करते हैं ।

भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ॥३९॥

जो मदमत्त गजनके उन्नत, कुम्भ विदारि नखनसों ।
सिंगारत [1]'भुवि रुधिरसुरजित[2]', सुन्दर सित मुक्तनसों ॥
भरी छलाँग हतनहित जिहिने, ऐसे खल मृगपतिके ।
पंजनि परे, बचैं तव-पद गिरि,-आश्रित जन शुभमतिके ॥३९

अन्वयार्थ—और हे नाथ, (भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्तमुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः) विदारे हुए हाथियोंके मस्तकोंसे जो रक्तसे भीगे हुए उज्ज्वल [3]मोती पड़ते हैं, उनके समूहसे जिसने पृथ्वीके भाग शोभित कर दिये हैं, ऐसा तथा ([4]बद्धक्रमः) आक्रमण करनेके लिये बाँधी है चौकड़ी अथवा छलाँग जिसने ऐसा (हरिणाधिपः अपि) सिंह भी (क्रमगतं) पंजेमें पड़े हुए (ते) आपके (क्रमयुगाचलसंश्रितं) दोनों चरणरूपी पर्वतोंका आश्रय लेनेवाले मनुष्यपर (न आक्रामति) आक्रमण नहीं करता है ।

भावार्थ—आपके चरणोंका आश्रय लेनेवाले भक्तजनोंपर भयानक सिंह भी आक्रमण नहीं कर सकता है ॥ ३९ ॥

---

१ पृथ्वी । २ रक्तसे भीगी हुई । ३ मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तकोंमें मोती उत्पन्न होते हैं, जिन्हें गजमुक्ता कहते हैं । ४ "बद्धक्रमः" का "बन्धे हुए हैं पाँव जिसके" यह भी तात्पर्य है । क्योंकि सिंह जो स्वभावसे ही क्रूर होता है, यदि बाँध दिया जाय, तो फिर उसके क्रोधका ठिकानो नहीं रहता है; परन्तु उस क्रोधावस्थामें भी वह आपके शरणागतका घात नहीं कर सकता है ।

कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम् ।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं ।
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

प्रलय-पवन-प्रेरित-पावकसो, विस्तृत अधिक उतंगा ।
प्रज्वलित उज्जल नभमें जिहिके, अगनित उड़त फुलिंगा ॥
ऐसी प्रबल दवानल जो सब, जगत भस्म करि डारै ।
सो हू तुव गुन-गान-नीरसों, सीतलता विसतारै ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ—हे भगवान्, (**कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं**) प्रलयकालके पवनसे उत्तेजित हुई अग्निके सदृश्य तथा (**उत्स्फुलिङ्गम्**) उड़ रहे हैं, ऊपरको फुलिंगे जिससे ऐसी (**ज्वलितम्**) जलती हुई (**उज्ज्वलम्**) उज्ज्वल और (**अशेषं**) सम्पूर्ण (**विश्वं**) संसारको (**जिघत्सुम् इव**) नाश करनेकी मानो जिसकी इच्छा ही है, ऐसी (**सम्मुखं**) सामने (**आपतन्तं**) आती हुई (**दावानलं**) दावाग्निको (**त्वन्नामकीर्तनजलं**) आपके नामका कीर्तनरूपी जल (**शमयति**) शांत करता है ।

भावार्थ—आपके गुणोंका गान करनेसे बड़ी भारी दावाग्नि भी भक्तजनोंका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती ॥ ४० ॥

रक्तेक्षणं समदकोकिलकण्ठनीलं
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तं ।

आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नामनागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥४१॥

कारो [1]समद पिक-कंठसम, अरु लाल नेत्र भयावने।
ऊँचौ करैं फन, फुंकरत, आवै चलो जो सामने॥
तिहि साँपके सिर पाँव देकरि, चलै सो अति निडर हो।
तुव नामरूपी नागदमनी, धरत जो हियमें अहो॥ ४१॥

अन्वयार्थ—हे जगन्नाथ, (**यस्य**) जिस (**पुंसः**) पुरुषके (**हृदि**) हृदयमें (**त्वन्नामनागदमनी**) तुम्हारे नामकी नाग-दमनी जड़ी है, वह पुरुष (**क्रमयुगेन**) अपने पैरोंसे (**रक्तेक्षणं**) लाल नेत्रवाले, (**समदकोकिलकण्ठनीलं**) मदोन्मत्त कोयलके कंठसमान काले, (**क्रोधोद्धतं**) क्रोधसे उद्धत हुए और (**उत्फणं**) उठाया है ऊपरको फण जिसने ऐसे (**आपतन्तं**) डसनेके लिए झपटते हुए (**फणिनं**) साँपको (**निरस्तशङ्कः**) शंकारहित अर्थात् निडर होकर (**आक्रामति**) उल्लंघन करता है, अर्थात् पाँव देकर उसके ऊपरसे चला जाता है।

भावार्थ—आपका नामस्मरण करनेवाले भक्तजनोंको भयङ्कर साँपोंका भी कुछ भय नहीं होता है॥ ४१॥

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।

---

1 मतवाली कोयलके कंठ जैसा।

उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

[1]हय-गय हजारों लरत, करत अपार नाद भयावने।
अस बिकट सैन बली नृपनिकी, जम रही हो सामने।
सो तुरत तुव गुन-गानसों, संग्राममें नशि जात है।
ज्यों उदित दिनपतिके [2]करनसों, तमसमूह [3]विलात है॥४२॥

अन्वयार्थ—हे जिनेश्वर, (**आजौ**) संग्राममें (**त्वत्कीर्तनात्**) आपके नामका कीर्तन करनेसे (**बलवताम्**) बलवान् (**भूपतीनाम्**) राजाओंका (**वल्गत्तुरंगगजगर्जितभीमनादम्**) युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियोंकी गर्जनासे जिसमें भयानक शब्द हो रहे हैं, ऐसा (**बलम् अपि**) सैन्य भी (**उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं**) उदयको प्राप्त हुए सूर्यकी किरणोंके अग्रभागसे नष्ट हुए (**तमः इव**) अंधकारके समान (**आशु**) शीघ्र ही (**भिदाम्**) भिन्नताको-नाशको (**उपैति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जैसे सूर्यके उदय होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आपके गुणोंका गान करनेसे राजाओंकी बड़ी २ सेनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं॥ ४२॥

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे-
युद्धे जयं विजितदुर्ज्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

---

१ हय=घोड़ा, गज=हाथी। २ किरणोंसे। ३ विलीन हो जाता है--नष्ट हो जाता है।

बरछीनसों छिदि गजनके सिर, जहँ रुधिर-धारा वहैं ।
परि वेगमें तिनके, तरनकों, वीर बहु आतुर रहैं ॥
ऐसी विकट रनभूमिमें, दुर्जय अरिनपै जय लहैं ।
तुव चरन-पंकज-वन मनोहर, जो सदा सेवत रहैं ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—हे देव, (**कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे**) बरछीकी नोकोंसे छिन्न-भिन्न हुए हाथियोंके रक्तरूपी जलप्रवाहके वेगमें पड़े हुए और उसे तैरनेके लिए आतुर हुए योद्धाओंसे जो भयानक हो रहा है, ऐसे (**युद्धे**) युद्धमें (**त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः**) आपके चरणकमलरूपी वनका आश्रय लेनेवाले पुरुष (**विजितदुर्जयजेयपक्षाः**) नहीं जीता जा सके, ऐसे भी शत्रुपक्षको जीतते हुए (**जयं**) विजयको (**लभन्ते**) प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—आपके चरण-कमलोंकी सेवा करनेवाले भक्तजन बड़े भारी युद्धमें भी शत्रुको जीतकर विजयी होते हैं ॥ ४३ ॥

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र-
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ ।
रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा-
स्त्रासंविहायभवतःस्मरणाद् व्रजन्ति ॥४४॥

जो है रह्यो भीषन मगरमच्छादिकनसों, क्षुभित है ।
विकराल बड़वानल भयंकर, सदा जिहिमें जलत है ॥
अस जलधिकी लहरीनिमें, जिनकी जहाजैं डगमगैं ।
तुव नाम सुमरत हे जगतपति, ते तुरत तीरै लगैं ॥४४॥

अन्वयार्थ—(भवतः) आपके (स्मरणात्) स्मरण करनेसे (क्षुभितभीषणनक्रचक्रपाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ) भीषण नक्र (मगर), चक्र (घड़ियाल), [1]पाठीन, और [2]पीठोंसे तथा भयंकर विकराल बडवाग्नि करके क्षुभित (अम्भोनिधौ) समुद्रमें (रङ्गत्तरङ्गशिखरस्थितयानपात्राः) उगलती हुई तरंगोंके शिखरोंपर जिनके जहाज पड़े हुए हैं, ऐसे पुरुष (त्रासं विहाय) त्रास विना (व्रजन्ति) चले जाते हैं, अर्थात् पार हो जाते हैं।

भावार्थ—आपका नामस्मरण करनेसे भयानक समुद्रमें पड़े हुए जहाज भी पार हो जाते हैं॥ ४४ ॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः।
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहाः
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

भीषण जलोदर[3]-भारसों, कटि वंक जिनकी ह्वै गई।
अति सोचनीय दशा भई, आसा जियनकी तज दई॥
ते मनुज तुव पद-कंज-रज,-रूपी सुधा-अभिरामसे।
निज तन परसि होवहिं अनूप, सुरूपवारे कामसे ॥४५॥

अन्वयार्थ—हे जिनराज, (उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः) उत्पन्न हुए भयानक जलोदर रोगके भारसे जो कुबड़े हो

१-२ एक जातिकी बड़ी मछलियाँ। ३ एक रोग विशेष होता है, जिससे पेटमें पानी भर जानेसे वह बड़ हो जाता है।

गये हैं, और (शोच्यां दशां) शोचनीय अवस्थाको (उपगताः) प्राप्त होकर (च्युतजीविताशाः) जीनेकी आशा छोड़ बैठे हैं ऐसे (मर्त्याः) मनुष्य (त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहाः) तुम्हारे चरण कमलके रजरूप अमृतसे अपनी देह लिप्त करके (मकरध्वजतुल्यरूपाः) कामदेवके समान सुन्दर रूपवाले (भवन्ति) हो जाते हैं।

भावार्थ—जैसे अमृतके लेपसे मनुष्य निरोग और सुस्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके चरण कमलके रजरूपी अमृतके लेपसे (चरणोंकी सेवासे) जलोदर आदि रोगोंसे पीडित पुरुष भी कामदेव-सरीखे रूपवान् हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः ।
[1]त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

गुरु[2] संकलनसों चरनतैं ले, कंठलगि जो कसि रहे ।
गाढ़ी बड़ी बेड़ीनसों, जिनके जघन-तट घसि रहे ॥
ते पुरुष प्रभु, तुव नामरूपी, मंत्रको जपिके सदा ।
तत्काल बन्धन-भयरहित स्वयमेव ही होवहिं मुदा ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थ—(अनिशं आपादकण्ठम्–उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गाः) जिनके शरीर पांवसे लेकर गलेतक बड़ी बड़ी संकलोंसे निरंतर जकड़े हुए हैं, और (गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः) बड़ी बड़ी

---

१ 'नाथ' भी पाठ है । २ भारी ।

वेड़ियोंके किनारोंसे जिनकी जंघायें[1] अत्यन्त छिल गई हैं ऐसे (मनुजाः) मनुष्य (त्वन्नाममन्त्रम्) तुम्हारे नामरूपी मंत्रको (स्मरन्तः) स्मरण करनेसे (सद्यः) तत्काल ही (स्वयं) आपसे आप (विगतबन्धभयाः) बन्धनके भयसे सर्वथा रहित (भवन्ति) होते हैं।

भावार्थ--आपका स्मरण करनेसे कठिन कैदमें फँसे हुए मनुष्य भी शीघ्र छूट जाते हैं ॥ ४६ ॥

मत्तद्विपेंद्रमृगराजदवानलाहि-
संग्रामवारिधिमहोदरबंधनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

मदमत्त गज मृगराज दावानल समुद्र अपारको ।
संग्राम साँप तथा जलोदर, कठिन कारागारको-॥
भय, स्वयं भयकरि भागि जावै तुरत ताको, नेमसों ।
यह आपकी विरदावली, वाँचै सुधी जो प्रेमसों ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ--(यः) जो (मतिमान्) बुद्धिमान् (इमं) इस (तावकं) तुम्हारे (स्तव) स्तोत्रको (अधीते) अध्ययन करता है, पढ़ता है (तस्य) उसके (मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहिसंग्राम-वारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्) मत्त हाथी, सिंह, अग्नि, सर्प, संग्राम, समुद्र, महोदर रोग, और बन्धन इन आठ कारणोंसे उत्पन्न हुआ (भयं) भय (भिया इव) डरकर ही मानों (आशु)

---

1 पिंडुलियाँ --गुल्फ और घुटनेके बीचका भाग ।

शीघ्र ही (नाशं) नाशको (उपयाति) प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—ऊपर कहे हुए आठ तथा इनके सदृश और भी भय उस पुरुष से डरकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जो पुरुष इस स्तोत्र का निरंतर पाठ किया करता है॥ ४७॥

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्रगुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः॥४८॥

मैं गूँथि लायो विरद-माला, नाथ, तुव गुन-गगनसों।
बहु भक्तिपूरित रुचिर-वरन, विचित्र-सुन्दर सुमनसों॥
यासों सदा सौभाग्यजुत, जो मनुज कंठ सिंगारि है।
तिस 'मानतुङ्ग' सुपुरुषको, कमला विवश उर धारि है॥४८॥

अन्वयार्थ—(**जिनेन्द्र**) हे जिनेन्द्र, (**इह**) इस संसारमें (**मया**) मेरे द्वारा (**भक्त्या**) भक्तिपूर्वक ([3]**गुणैः**) आपके गुणों करके (**निबद्धां**) गूँथी हुई; ([4]**रुचिरवर्णविचित्रपुष्पाम्**) मनोज्ञ अकारादि वर्णोंके यमक श्लेष अनुप्रासादिरूप विचित्र फूलोंवाली और (**कण्ठगतां**) कण्ठमें पड़ी हुई (**तव**) तुम्हारी इस (**स्तोत्रस्रजं**)

---

१ मूलकी नाई इस पद्यका भी दोनों पक्षोंमें अर्थ घटित होता है। २ पुष्पमालाके पक्षमें भक्तिका अर्थ 'विचित्र-रचनापूर्वक' होता है। ३ पक्षमें—गुण अर्थात् सूतोंकरके। ४ पक्षमें—सुन्दर रंग-रंगके विचित्र फूलोंवाली।

स्तोत्ररूपी मालाको (यः) जो पुरुष (अजस्रं) सदैव (धत्ते) धारण करता है (तं) उस (मानतुङ्गं) मानसे ऊँचे अर्थात् आदरणीय पुरुषको[1] (लक्ष्मीः) राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और सत्काव्यरूप लक्ष्मी (अवशा) विवश होकर (समुपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ—जैसे पुष्पमाला के धारण करनेसे मनुष्य को शोभा (लक्ष्मी) प्राप्त होती है, उसी प्रकार इस स्तोत्ररूपी मालाके पहनने से राज्य स्वर्गादि और परंपरासे मोक्षरूप लक्ष्मी प्राप्त होती है। 'अवशा' पद देनेका अभिप्राय यह है कि, उस लक्ष्मीको विवश होकर इस स्तोत्र के पठन अध्ययन करनेवाले पुरुषकी सेवामें आना ही पड़ता है ॥४८॥

* इति श्रीआदिनाथस्तोत्रं सम्पूर्णम् *

—: समाप्त :—

१ पक्षमें--स्तोत्रकर्त्ता श्रीमानतुङ्गाचार्य को।

भाषाकार की प्रार्थना

—* दोहा *—

मानतुङ्ग अति तुङ्ग कवि, अरु तिन भक्ति उतंग ।
अमर-गिरा पुनि अति गहन, गूढ़ पदार्थ-प्रसंग ॥ १ ॥

तौहू बिन प्रतिभा तथा, बिन अभ्यास कवित्त ।
कियौ परिश्रम भक्तिवश, 'प्रेमी' करि इकचित्त ॥ २ ॥

यामहँ जो कछु न्यूनता, होवहि मूलविरुद्ध ।
सो सुधारि सज्जन पढ़ें, करि निजभाव विशुद्ध ॥ ३ ॥